ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor (RJIF): 5.2
IJAR 2028; 4(5): 417-420
www.allresearchjournal.com
Received: 13-03-2018
Accepted: 18-04-2018

डॉ. कमलेश कुमार सिंह
एसोशिएट प्रोफेसर, एवं विभागाध्यक्ष, के. ए. (पी.जी.) कालेज, कासगंज, उत्तर प्रदेश, भारत

Corresponding Author:
डॉ. कमलेश कुमार सिंह
एसोशिएट प्रोफेसर, एवं विभागाध्यक्ष, के. ए. (पी.जी.) कालेज, कासगंज, उत्तर प्रदेश, भारत

राष्ट्रनिर्माण की भावना का समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ. कमलेश कुमार सिंह

प्रस्तावना

'राष्ट्र' (Nation) शब्द संस्कृतभाषा की √राज् धातु में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय के योग से बना है, जिसका अर्थ देश, राज्य, अथवा साम्राज्य होता है। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ 'वेदों' ने मानवमात्र को राष्ट्रीय भावों से परिपूर्ण होने तथा राष्ट्रसेवा में संलग्न होने का आदेश दिया है।[1] वैदिक ऋषियों ने समाज के प्रत्येक पक्ष की कल्याण कामना के लिये राष्ट्रनिर्माण पर बल दिया। यजुर्वेद में जो राष्ट्रीय आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह किसी भी राष्ट्र के लिये अत्यन्त गौरव की बात है।[2] अथर्ववेद के 'पृथिवीसूक्त' में सम्पूर्ण जगत को एक परिवार के रूप में देखते हुये, 'पृथ्वी' को 'माता' एवं प्रणिमात्र को 'पृथिवीमाता' का पुत्र कहा गया है– माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।।[3] यहाँ तक कि 'राष्ट्र' को सुदृढ़ बनाने एवं सौभाग्य की ओर ले जाने हेतु राजा को आदेशित भी किया गया हैं।[4]

राष्ट्रनिर्माण, राष्ट्रसंरक्षण एवं राष्ट्रविकास के क्रम में अव्यक्त की अभिव्यक्ति, अभिव्यक्त का परिज्ञान तथा परिज्ञात का परिष्कार ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग बतलाया गया है। मानव इस समष्टि का एक अंग है। अतः मानव का स्वभाव भी सर्जनात्मक है। मानव सभ्यता के विकासक्रम में जब "राष्ट्र" का संगठन हुआ, तो उसके सुव्यवस्थित संचालन हेतु अनेकों आनुषंगिक इकाइयों की रचना भी हुई। तत्कालीन प्रबुद्धवर्ग ने मानव समाज को वर्णों में विभाजित करके, उनके करणीय कर्तव्यों तथा अधिकारों को निर्धारित किया। सामाजिक भावों के अनुरूप सर्वतोमुखी सहभाव की आराधना की गई। संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।[5] समानी व आकृतिः समाना हृदयानि वः।[6] सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।[7] इत्यादि के आदर्शों ने समवेत जीवन की दिशा प्रदान की, जिसका उद्देश्य 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः' था।[8]

राज्य और राष्ट्र– जिस राज्यव्यवस्था का प्रारम्भ सामाजिक नियन्त्रण के लिए दण्डनीति के रूप में हुआ था, उसका विकास प्रजानुरंजन तथा अभ्युदयशील राष्ट के रूप में हुआ। उत्तम शासन व्यवस्था के द्वारा स्वायत्त सम्प्रभुता, सार्वजनीन विकास, बहुजनसुखाय, बहुजनहिताय का लक्ष्य तथा समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराएँ एवं सुदृढ़ अर्थव्यवस्था इत्यादि 'राष्ट्र' होने के लिए आवश्यक समझे गए। राष्ट्र की वैदिक संकल्पना एक ऐसे देश के रूप में की गई जो ब्रह्मवर्चस् ब्राह्मणों, योद्धा क्षत्रियों, धनसम्पत्ति से युक्त वैश्यों तथा निष्ठावान कर्मठ सेवकों से युक्त हो। जहाँ सभ्य तथा चरित्रवान नागरिक हों, राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा करने वाली नारियाँ हों, गो अश्वादि पशु हों, जंगल वानस्पतिक समृद्धि से युक्त हों तथा निरन्तर यज्ञ के कारण वर्षा करने वाले बादल से युक्त सर्वत्र सुख एवं शान्तिमय वातावरण हो।

यहाँ पर 'राज्य' तथा 'राष्ट्र' के विषय में जिज्ञासा होती है, कि कौटिल्यादि ने 'राष्ट्र' को 'राज्य' का अंग माना है, जबकि वर्तमान में 'राज्य' 'राष्ट्र' के अंग हैं। अतः इन ऐनों में कौन बड़ा है? राज्य या राष्ट्र? यहाँ पर सुस्पष्ट करना आवश्यक है कि राज्य एक शासन प्रणाली है, जबकि 'राष्ट्र' उस शासन प्रणाली में व्यवस्थित धन–जन और भूमि का समुच्चय है। 'राष्ट्र' प्राप्य है, साध्य है, जबकि 'राज्य' प्रापक है, साधन है।

किसी विशेष सीमित क्षेत्र को कुछ भौगोलिक आधारों पर व्यवस्था की दृष्टि से वर्गीकृत करने के कारण व्यवस्थागत सुविधा की दृष्टि से किया गया विभाजन राज्य का उपलक्षण मात्र है। एक आदर्श राष्ट्र शासक द्वारा केवल नियन्त्रित ही नहीं होता है, अपितु राजा और प्रजा, दोनों जहाँ पर निमित्त बन कर अपनी चेतना तथा सामर्थ्य 'राष्ट्र' को समर्पित करते हैं, वहाँ पर 'राष्ट्र' निरन्तर अभ्युदय के पथ पर अग्रसर होता रहता है। जब दोनों समान रूप से 'राष्ट्रीय कोष' की चिन्ता करते हुए, दण्डनीति (न्यायव्यवस्था) का सम्मान करते हुए, व्यक्तिगत स्वार्थों को समष्टिगत लाभ के लिए समर्पित करते हैं, तब भौतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवम् आध्यात्मिक निधियों एवं परम्पराओं की रक्षा होती है, जिससे अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त होता है।

किसी भी सुदृढ़ 'राष्ट्र' के निर्माण के लिए प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिपल सावधान रहना चाहिये। ऐसी स्थिति में 'राष्ट्र' के अन्तर्गत किसी देश में रहने वाले नागरिकों तथा उनसे अर्जित धनसम्पत्ति, भूमि, पशु, सोना, चाँदी, इत्यादि से 'राष्ट्र' की समृद्धि को बल मिलता है।

राष्ट्रनिर्माण– राष्ट्र–निर्माण एक लक्ष्यबद्ध, सुनियोजित कार्य है। यह ऐसा महायज्ञ है, जिसमें अनेकों, यजमानों, पुरोहितों तथा आहुतियों की अपेक्षा होती है। अतः राष्ट्रनिर्माण एक सर्जनात्मक कार्य है, जिसके लिये जागरुक राजनेताओं एवं राष्ट्रप्रेमी नागरिकों की राष्ट्रभक्ति की नितान्त आवश्यकता होती है। कराल काल की विकराल विभीषिकाओं से सुरक्षित रखने का दायित्व भी इन्हीं राजनेताओं एवं राष्ट्रप्रेमी नागरिकों के कन्धों पर होता है।
राष्ट्रनिर्माण के आधारभूत तत्त्वों के रूप में कुछ प्रमुख तत्त्वों को यहाँ पर निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है–

1. व्यक्तिनिर्माण– 'व्यक्ति' समाज अथवा राष्ट्र की प्रथम इकाई है। व्यक्तिनिर्माण से समाज निर्माण तथा समाज निर्माण से राष्ट्रनिर्माण का मार्ग स्वयमेव समुन्नत हो जाता है। इस व्यक्तिनिर्माण को प्रभावित करने वाले घटकों में उसकी आध्यात्मिक एवं भौतिकपरिवेश एवं परिस्थितियाँ प्रमुख होती हैं। आध्यात्मिक संरचना के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व, उसका शरीर तथा उसके अन्तःकरण (मन एवं बुद्धि) उसके आध्यात्मिक स्वरूप का निर्धारण करते हैं। माता– पिता से प्राप्त आनुवंशिक गुण, आहार, विहार, उससे उद्भूत सामाजिक परिवेश एवं पोषणपद्धति, ये सभी शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य को प्रभावित करते है, जबकि अदृष्टजन्य प्रारब्ध तथा स्वयं के द्वारा अर्जित संस्कार, पारिवारिक परिवेश, परम्पराएँ एवं सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक स्वरूप का निर्धारण करती हैं। अतः एक स्वस्थ मानसिक एवं शारीरिक विकास वाले व्यक्ति राष्ट्रनिर्माण में निश्चित ही महनीय भूमिका वाले सिद्ध होते हैं।
इस राष्ट्रनिर्माण के क्रम में माता, पिता, गुरु एवं समाज की भूमिका सर्वोपरि होती है। माता, पिता 'सन्तान' को जन्म देकर, उसका पालन–पोषण करके तथा उसे समुचित संस्कारों से सुसंस्कृत करके गुरु (आचार्य) के पास भेजते हैं। आचार्य उसे भावी जिम्मेदारियों को वहन करने तथा राष्ट्र के उत्कर्ष एवम् आत्मोत्कर्ष को ध्यान में रखते हुये उसका सर्वांगीण विकास करते हैं।
सम्प्रति अपने राष्ट्र में शिक्षा का व्यापक प्रचार प्रसार होने के बाद भी जिस मूल्यनिष्ठ शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित किया गया था, वह अद्यावधि पर्यन्त पूर्ण नहीं हो सका। उसके विपरीत इस शिक्षाव्यवस्था ने युवकों को दिशाहीन बनाने का पर्याप्त प्रयास किया है। आज 'शिक्षा' का उद्देश्य मूल्यसम्वर्द्धन तथा चरित्रनिर्माण न होकर, अर्थप्राप्ति का साधन मात्र रह गया है। अतः इस समय व्यावसायिक शिक्षा का तीव्रगति से विस्तार हो रहा है।
प्रत्येक अभिभावक तथा विद्यार्थी की दृष्टि चिकित्सा अभियान्त्रिकी, प्रबन्धन, सूचना प्रौद्योगिकी तथा इस प्रकार के विभिन्न शैक्षणिक कार्यक्रमों पर लगी है। इसके परिणाम स्वरूप मध्यम तथा उच्चवर्ग भी इन क्षेत्रों में महंगी शिक्षा के लिए जिस किसी तरह उचितानुचित का विचार किये बिना धनसंग्रह के लिए विवश हो गया है। कलात्मक तथा साहित्यिक अभिरुचि वाले विद्यार्थी भी धनार्जन की लोलुपता से अभिभूत होकर, अपनी वास्तविक प्रतिभा से वंचित रह जाते हैं तथा चिकित्सा, अभियान्त्रिकी, प्रबन्धन आदि की दृष्टि से अयोग्य होने के बाद डॉक्टर, इंजीनियर, मैनेजर आदि पदों पर पदासीन कर दिये जाते हैं और सेवानिवृत्ति–पर्यन्त बिना मन के उक्त पदों पर जिस किसी तरह कार्यों का निर्वाह मात्र करते रहते हैं, जिससे समाज एवं राष्ट्र की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता हैं। अतः आध्यात्मिक संरचना के अनुरूप व्यक्तित्व अथवा व्यक्तिनिर्माण किसी भी राष्ट्र के उन्नयन के लिए आवश्यक है।

भौतिक परिवेश– व्यक्ति का बाह्य वातावरण ही उसका 'भौतिक परिवेश' होता है, समाज जिसका प्रमुख अंग है। यह 'समाज' एक व्यापक संघटनात्मक इकाई है। सम्प्रति व्यक्तित्व निर्माण की दृष्टि से दो महत्त्वपूर्ण घटक हैं– संचारमाध्यम तथा नेतृवर्ग। आज संचारमाध्यमों का जितना दुरुपयोग हो रहा है, वह किसी से छिपा नहीं है। सांस्कृतिक तथा चारित्रिक प्रदूषण एक भयानक 'संक्रामक रोग' की भाँति आज की युवापीढ़ी को प्रदूषित कर रहा है। व्यक्तित्व निर्माण का दूसरा महत्त्वपूर्ण घटक 'नेतृवर्ग' स्वयं दिग्भ्रान्त तथा स्वार्थलोलुल हो गया है। जो जितना बड़ा नेता है, उसकी भ्रष्टाचार विषयक महत्त्वाकांक्षाएँ उतनी ही बड़ी हैं। प्रजानुरंजन तथा लोकहित छलावा मात्र बनकर रह गया है। इस प्रकार आज की युवापीढ़ी संचारमाध्यमों के जाल में भटकती हुई, वह भ्रष्टाचार–लोलुप नेताओं को अपना आदर्श मान रही है। अतः ऐसे परिवेश से कदापि 'राष्ट्रनिर्माण' की अपेक्षा नहीं रखी जा सकती।
राष्ट्रनिर्माण के लिए व्यक्तिनिर्माण का स्वरूप निश्चित रूप से सुस्पष्ट, सुविचारित एवं मूल्याश्रित होना चाहिए, जो प्रबुद्धवर्ग की क्रान्तिकारी सक्रियता, की अपेक्षा रखता है। राष्ट्रीय चेतना का विकास, प्रखर राष्ट्रभक्ति की भावना के बिना सम्भव नहीं है।

2. नैतिक जीवनमूल्य–किसी भी राष्ट्र की सम्प्रभुता तथा स्थायित्व उसके नैतिक जीवनमूल्यों पर निर्भर होता है। 'नैतिक जीवनमूल्यों' का आधार सत्य, अहिंसा, परोपकार एवं धर्म होता है। 'सत्य' व्यक्ति में उदारता तथा निर्भीकता जैसे गुणों का आधान करता है, जबकि 'धर्म' उसे कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराते हुये, देश, काल के अनुसार व्यवहार की शिक्षा देता है। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य तथा अक्रोध धर्म के दस लक्षण बतलाये गये हैं।[9]
नैतिक धरातल पर अधिष्ठित किसी भी 'राष्ट्र' की 'आत्मा' उसकी 'चारित्रिक सम्पत्ति' होती है। इसी के आधार पर 'भारतवर्ष' को 'विश्वगुरु' के विरुद से विभूषित किया गया था। इस सन्दर्भ में मनुस्मृतिकार का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है–
एतद्देश–प्रसूतस्य, सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।।[10]
लोकहित, न्याय एवम् अभ्युदय की भावना 'नैतिक जीवनमूल्यों' के 'प्राणतत्त्व' माने गये हैं। ऐसे जीवनमूल्यों से संसिक्त 'मन' को 'शिवसंकल्प'।[11] में नियुक्त करके समग्र शक्तियों के साथ 'मन' को बुद्धिजन्य 'विवेक' से नियन्त्रित करने की 'इच्छाशक्ति' जिन नैतिकमूल्यों का विकास करती है, वह 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'[12] के आदर्शों पर चलने की शिक्षा देती है। सुख–दुःख में अथवा सम्पत्ति–विपत्ति में सर्वत्र सहृदयतापूर्वक परस्पर सहायता करने के लिये जब राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक तत्पर हो उठता है, तो बड़ी से बड़ी आपत्ति भी उस राष्ट्र के समक्ष सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है।
समाज में पाये जाने वाले सम्स्त भ्रष्टाचारों का मूलकारण 'नैतिकपतन' है। इन अनैतिक लोगों ने अपने व्यक्तिगत स्वार्थों तथा क्षणिक सुखोपभोगों के सम्पूर्ण राष्ट्र को दीमक की भाँति खाकर खोखला कर दिया है। किम्बहुना नेताओं का एक बहुत बड़ा वर्ग भ्रष्टाचार में लिप्त हो गया है, जो जनता के खून–पसीने की कमाई को गलत तरीके से हस्तगत करके उसका अपव्यय कर रहा है। अतः राष्ट्रनिर्माण एवं जीवन मूल्यों की रक्षा के लिए आज प्रबुद्ध, एवं कर्तव्य परायण नैतिक लोगों को एकजुट होकर आगे आना होगा तथा अपनी शिवसंकल्पजन्य आध्यात्मिक शक्तियों से समाज को मूल्यों के प्रति सचेत एवं जागरूक करना होगा, क्योंकि सफलता का मूलभूत 'दृढसंकल्प' समस्त 'ऊर्जा' को

केन्द्रित करके, उसे सकारात्मक एवं समुचित दिशा में सफल प्रयास को गति प्रदान करता है।

3. राष्ट्रीय चेतना– चेतना का मूलस्रोत आत्मशक्ति है, जो किसी भी व्यक्ति के समस्त क्रिया कलापों को गति एवं दिशा प्रदान करती है। इस शक्ति की 'बाह्याभिव्यक्ति' व्यक्ति के व्यवहारों के रूप में दृष्टिगोचर होती है। इस आत्मशक्ति से संचालित 'चित्त' अथवा 'मन' संकल्प का केन्द्र होता है। जब तक 'संकल्प' नहीं होता, तब तक चेतना उद्‌बुद्ध नहीं होती। अतः उद्‌बुद्ध चेतना की प्रतीति व्यक्ति के संकल्पों एवम् अनुष्ठानों होती है। अतः राष्ट्रीय चेतना के प्रस्फुरण हेतु दृढ़संकल्प से प्रेरित राष्ट्रभक्ति उवम् उसके प्रति समर्पण का भाव आवश्यक है।

यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि राष्ट्रीय चेतना के उद्‌विकास के लिए राष्ट्र तथा राष्ट्रीय परिवेश के समस्त पक्षों का ज्ञान एवम् उसके प्रति सकारात्मक आत्मीय दृष्टिकोण आवश्यक है। इस सकारात्मक दृष्टिकोण से अभिप्रेरित व्यक्ति अपने देश या समाज के लिए वह सब कुछ करने के लिये तत्पर रहता है, जो उसके राष्ट्र या समाज के लिए अभीष्ट होता है। व्यक्ति की यही प्रवृत्ति राष्ट्रीय सम्पत्तियों के अनुरक्षण एवम् उसके विकास की प्रेरणा देती ती है। इस भावना से भावित व्यक्ति दूसरों के अधिकारों के हनन का प्रयास नहीं करता है और न ही राष्ट्रीयसम्पत्ति को क्षति पहुचाता है। उसके अन्दर समस्त नागरिकों के प्रति पारस्परिक सौहार्द तथा योगक्षेम की भावना बलवती हो जाती है, जिससे एक का स्वर सबका स्वर, एक का विचार सबका विचार तथा एक का आह्‌वान सबका आह्‌वान बन जाता है। सहानुभूति की संवेदना तीव्रतर हो जाती है। इन्हीं भावों एवं क्रियाओं की परिणति राष्ट्रीय चेतना के रूप में दृष्टिगोचर होती है। यह 'राष्ट्रीय चेतना' विविध समस्याओं तथा परिस्थितियों के प्रति नागरिकों के अन्तःकरण में जागरूकता उत्पन्न करती है, जिसका केन्द्र मानवाधिकार तथा नागरिकों के कर्तव्य एवम् अधिकार होते हैं। ऐसे जागरूक नागरिक 'शासन व्यवस्था' के निष्पक्ष संचालन में सदैव सहायक सिद्ध होते हैं। राष्ट्रविरोधी शक्तियाँ इन सजग नागरिकों के सामने शक्तिहीन हो जाती हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय चेतना 'राष्ट्रनिर्माण' का मूलभूत स्तम्भ सिद्ध होती है।

4. संसाधनों का समुचित उपयोग– राष्ट्रीय संसाधन किसी भी राष्ट्र के निवासियों के जीवन निर्वाह के केवल स्रोत मात्र नहीं होते, अपितु उस राष्ट्र की अर्थव्यवस्था, सुरक्षाव्यवस्था, व्यापारनीति, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध आदि महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय विषयों के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

प्राकृतिक संसाधनों का कितना तथा किस प्रकार दोहन किया जाय कि उसकी प्रतिपूर्ति दीर्घकाल होती रहे। यह मानवसमाज की संकल्प– बद्धता, सक्रियता तथा सूझ–बूझ पर निर्भर करता है। जल, धातु, खनिज, तेल आदि प्राकृतिक संसाधनों का यथायोग्य मौलिक, सुनियोजित तथा सुविचारित उपयोग राष्ट्रनिर्माण के लिए उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करता है। भारत जैसे विकासशील राष्ट्र के सन्दर्भ में उपर्युक्त तथ्यों पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। आर्थिक विकास की त्वरित महत्वाकांक्षा को नियन्त्रित करके, राष्ट्रीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये, वर्तमान वैश्विक स्पर्धा तथा पर्यावरण सुरक्षा का सन्तुलन बनाये रखते हुये, संसाधनों के उचित उपयोग को सुनिश्चित करना अनिवार्य है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में विभिन्न गुणधर्म एवं स्वभाव वाले मनुष्यों को सामाजिक, सांस्कृतिक, एवं वैज्ञानिक स्तरों पर संगठित करके सुनियोजित शैक्षिक तथा व्यावसायिक निर्देशन द्वारा राष्ट्रीय सम्पत्ति के दुरुपयोग पर अंकुश लगाते हुये, विभिन्न कार्य योजनाओं के लिये उपयुक्त प्रतिभाशाली लोगों का चयन करके, उनकी प्रतिभा का सही दिशा में उपयोग किया जाय, तो इसके बहुत अच्छे परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं; क्योंकि अपनी सामर्थ्य के अनुरूप राष्ट्रीय युवाशक्ति का समुचित उपयोग किसी भी राष्ट्र की समुन्नति का मुख्य कारण होता है।

इस प्रकार राष्ट्रीय संसाधनों से दीर्घकालीन लाभ प्राप्त करने के लिए किसी भी स्वस्थ, निष्पक्ष तथा गौरवशाली समाज के प्रत्येक व्यक्ति की अधिकतम क्षमताओं का समुचित उपयोग किया जाना आवश्यक है। प्राकृतिक वनसम्पदा, जल, पर्वत, खनिजदोहन, तथा संरक्षण आदि सुनियोजित एवं सुविचारित प्रबन्धन के स्तर पर स्वीकार किया जाना चाहिए। निर्माण के वर्तमान स्वरूप को भावी विनाश के हाथों में नहीं सौंपा जा सकता।

इस परिप्रेक्ष्य में, पर्वतीय जलसेतु तथा जलविद्युत परियोजनाएँ बहुआयामी विश्लेशण के पश्चात् ही क्रियान्वित की जानी चाहिए। उदाहरणार्थ, नदी–संयोजन तथा जलविद्युत के निर्माण की दृष्टि से प्रकल्पित टिहरी बाँध जैसी अदूरदर्शी योजनाएँ हैं, जिनका दुष्परिणाम बहुत शीघ्र दृष्टिगोचर होने लगा है। निर्माण वर्तमान के लिए ही न होकर, शताब्दियों–सहस्राब्दियों की परम्परा के अनुरक्षण तथा संकल्प के लिए होता है। इस दृष्टि से संसाधनों का उचित उपयोग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

धार्मिक सद्‌भाव– राष्ट्रनिर्माण का आधारभूत तत्त्व 'धर्म' व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनों की सुरक्षा का रक्षासूत्र है। मनुस्मृकिार ने लिखा है, 'नष्ट हुआ धर्म, हम लोगों को नष्ट न करे, यह जानकर धर्म को नष्ट नहीं करना चाहिये, अपितु असत्यभाषण करने वाले को दण्डित करके सत्यभाषण के द्वारा धर्म की रक्षा करना चाहिये।'[13]

एक निर्विकल्प तथा धर्माश्रित राष्ट्र का निर्माण भारतीय मनीषियों का स्वप्न रहा है। देश–काल– परिस्थिति के सापेक्ष वह नीति, वह आचरण तथा वह कर्म, धर्म की परिभाषा में गृहीत होता है। राष्ट्र के बहुक्षेत्रीय निर्माण के लिए एक ही 'धर्म' युगधर्म, मानवधर्म, राजधर्म, लोकधर्म, वर्णधर्म तथा आश्रमधर्म इत्यादि विभिन्न नापों से जाना जाता है। जिस राष्ट्र में धर्म की रक्षा होती है, वह सर्वतोमुखी उन्नति, को प्राप्त करता। इसके विपरीत तथा जहाँ 'धर्म' उपेक्षित और तिरस्कृत होता है, वह राष्ट्र अपने राजा, अपनी प्रजा तथा राज्यलक्ष्मी के साथ नष्ट हो जाता है।

वैश्वीकरण की अवधारणा– राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक संसाधनों का विनिमय आधुनिक वैश्वीकरण का आधार है। भारतीय वैश्वीकरण की अवधारणा का आधार मानवाधिकार रहा है, जिसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्'[14] के रूप में जाना जाता है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य है कि 'वैश्वीकरण' का आधार आर्थिक एवं व्यवसायिक है, जबकि 'विश्व बन्धुत्व' का आदर्श 'भावात्मक' है, जिसमें 'त्यागपूर्वक भोग' का उच्चादर्श निहित है।

आज के इस वैश्वीकरण की नीति ने कुछ राष्ट्रों को आर्थिक दृष्टि से इतना सम्पन्न बना दिया है कि तथाकथित अर्थसम्पन्न राष्ट्र सम्पूर्ण विश्व पर अपना का वर्चस्व बना रखे हैं। निर्बल राष्ट्र, मुट्‌ठीभर विकसित राष्ट्रों पर इस सीमा तक आश्रित हो गये हैं कि उनका अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा। अतः भारतवर्ष को समय रहते वैश्वीकरण इस की नीति पर अच्छी तरह पुनर्विचार करके आर्थिक नीतियों का क्रियान्वयन किया जाना चाहिये।

विदेशी पूँजी निवेश, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का भारत के आन्तरिक विषयों में हस्तक्षेप, प्रतिभापलायन, विभिन्न उद्यमों एवं शैक्षणिक संस्थानों का निजीकरण तथा विदेशी व्यापारिक संगठनों को भारतीय निधियों के व्यापार का अवसर, विदेशी वस्तुओं का अनावश्यक एवं अनियन्त्रित आयात, इत्यादि ऐसे ही विषय हैं, जिनके विषय में पुनर्विचार किया जाना आवश्यक है। सूचना प्रौद्योगिकी का अप्रतिहत विस्तार, जिसमें इण्टरनेट की नवीनतम मर्मभेदी प्रणाली भी सम्मिलित है। इन सब से राष्ट्रीय विकास की सम्भावनाओं के साथ–साथ राष्ट्रीय सुरक्षा का खतरा भी सर्वाधिक है।

सम्प्रति भूमण्डलीकरण (Globalization) के इस दौर में सम्पूर्ण 'विश्व' को एक परिवार के रूप में उपस्थापित किया जा चुका है। अतः मूल इकाइयों की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। व्यक्ति तथा विश्व के मध्य 'राष्ट्र' एक महत्त्वपूर्ण शृंखला है। अतः 'वैश्वीकरण' की इस 'भेड़चाल' में कहीं अपना अस्तित्व ही न खो जाय, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है। अतः राष्ट्र के नीतिनिर्धारकों को कुछ सीमाएँ अवश्य सुनिश्चित करनी चाहिए। विश्ववन्धुत्व की भावना का संकुचित तथा एकांगी रूप वर्तमान वैश्वीकरण के रूप में दृष्टिगोचर हो रहा हैं।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि हार्दिक संकीर्णता, अकर्मण्यता, असहिष्णुता, अज्ञानता, कायरता, असत्य भाषण, विद्वदपमान, अत्याचार, अनाचार, दुराचार इत्यादि से राष्ट्र कमजोर होता है।'मातृभूमि' की प्रतिष्ठा संकटापन्न हो जाती है। आज भारतवर्ष की स्थिति कुछ ऐसी ही है। अतः भारतवर्ष को पुनर्प्रतिष्ठित करने के लिये राष्ट्रभक्ति, स्वस्थचिन्तन, सकारात्मक सोच, कर्तव्यपरायणता, सहिष्णुता, आपसी भाईचारा, राष्ट्रविरोधी शक्तियों का प्रतिकार इत्यादि भावनाओं का विकास आवश्यक है; क्योंकि राष्ट्रीय अभ्युदय एवं विकास 'त्याग, तपस्या तथा बलिदान' से होता है।''तेरा वैभव अमर रहे माँ, हम दिन चार रहें ना रहें'' इस सूक्ति को आचारण का विषय बनाने से होता है। अतः है कि राष्ट्रनिर्माण अथवा राष्ट्ररक्षा का दायित्व वे ही उठा सकते हैं, जो अपने इतिहास तथा अपनी संस्कृति पर गर्व करते हैं। आज के प्रबुद्ध युवावर्ग का आह्वान है कि वे राष्ट्रनिर्माण के इस महायज्ञ में सम्मिलित होकर अपना योगदान देवें।

सन्दर्भ

1. भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
   ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु।।
   अथर्ववेद, राष्ट्रसूक्त ।। 19.41.01।।
2. यजुर्वेद, माध्यन्दिन संहिता।। 10/4।।
3. अथर्ववेद।। 12/1/12।।
4. अथर्ववेद।। 07/36/01।।
5. ऋग्वेद।। 10/191/02।।
6. ऋग्वेद।। 10/191/04।।
7. तैत्तिरीयोपनिषद्।। 02/01/01।।
8. तैत्तिरीयोपनिषद्।। 02/01/01।।
9. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
   धीर्विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्मलक्षणम्।। मनुस्मृति।। 06/92।।
10. मनुस्मृति।। 02/20।।
11. शिवसंकल्पसूक्त।। यजुर्वेद।। 34/1–6।।
12. ईशावास्यमिदं सर्वं, यत्किंच जगत्यां जगत्।
    तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।
    ईशावास्योपनिषद्।। 1।।
13. धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।(मनु.8.15)
14. उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।। महोपोपनिषद्।।
    06/71।।